# 'पढ़ाई' के बहाने स्त्री-शिक्षा की पड़ताल

निशा नाग

बाल केन्द्रित शिक्षा या अनुभवजन्य सीखने की बातें भी स्त्री-पुरुष भेदभाव से अछूती नहीं रह जातीं। एक लड़की के लिए पढ़ाई के सामाजिक निहितार्थ बिलकुल अलग हैं। विविध कथा साहित्य के मार्फ़त इसी बात को रखने की कोशिश करता यह आलेख बताता है कि इतने वर्षों बाद भी समाज का नज़रिया कुछ ख़ास नहीं बदला है। प्रमुखतः जैनेन्द्र कुमार की कहानी 'पढ़ाई' के माध्यम से बाल-शिक्षा की बात करते हुए स्त्री-शिक्षा से जुड़े गम्भीर सवाल उठाता है यह आलेख।

"मैं अगला जन्म लूँगी तो ये मोटी-मोटी बड़ी किताबें पढ़ूँगी।" नब्बे वर्षीय उस बुजुर्ग महिला के मन की कसक मुझे कहीं अन्दर तक कचोट गई। मेरे इस प्रश्न के उत्तर में कि "आपके समय में क्या स्कूल नहीं थे? आप पढ़ने क्यों नहीं गईं?" जो उत्तर मुझे मिला वह झकझोरने वाला था। उन्होंने बताया कि वह स्कूल गई थीं बहुत ही थोड़े समय के लिए और उन्होंने वर्णमाला की पुस्तक में यहाँ तक पढ़ा था– "चल अब घर चल"।

"फिर?" "फिर परिवार और बिरादरी के बड़े-बूढ़ों ने ऐतराज़ किया कि हमारे परिवार की लड़कियाँ अवर्ण जाति की लड़कियों के साथ पढ़ रही हैं। इस वजह से उनकी शादी नहीं होगी। दूसरा पढ़ जाएँगी तो चिट्ठी लिख कर पतियों की शिकायतें करेंगी और घर तुड़वाएँगी।"

इनमें से पहली वजह समाज की रूढ़िवादी सोच है तो दूसरी स्त्रियों की जागरूकता को लेकर आशंका से जुड़ी है। भारत में स्त्री-शिक्षा का प्रश्न निरन्तर विचित्र प्रकार के भय, मिथकों और आशंकाओं से जुड़ा रहा। प्रारम्भ में यदि पढ़ने से घर तुड़वाने, विधवा होने जैसी आशंकाएँ थीं तो बाद में शिक्षा का प्रचार-प्रसार होने के बाद लड़कियों को केवल और उतना ही पढ़ाया जाता था जिससे उन्हें एक अच्छे वर की प्राप्ति हो सके। आज न केवल देखा जा सकता है, बल्कि लोगों से बातचीत के दौरान यह बात भी पुष्ट होती है कि बहुत-सी लड़कियों के स्नातक के बाद शिक्षा ग्रहण करने का उद्देश्य उच्च शिक्षा लेना नहीं बल्कि विवाह होने ने इन्तज़ार के बीच का समय गुज़ारना रहता है।

भारत में 19वीं सदी के मध्य से समाज सुधारकों तथा मिशनरियों ने स्त्री-शिक्षा का प्रयास किया। स्त्री-शिक्षा की प्रकृति क्या हो? यह भी निरन्तर बहस का प्रश्न बना रहा जिसका कारण स्त्री और पुरुष के भिन्न परिभाषित रूढ़िवादी कार्यक्षेत्र थे। मिशनरियों और समाज सुधारकों से लेकर स्वतंत्रता के बाद तक स्त्री-शिक्षा का लक्ष्य और उद्देश्य उसके व्यक्तिगत विकास से कहीं अधिक उसे एक गृहिणी और माँ की भूमिका में दक्ष बनाना रहा। स्त्री की शिक्षा

का उद्देश्य स्वयं को सुधारने से कहीं अधिक समाज सुधार माना गया। शिक्षा या पढ़ाई के क्षेत्र में अकसर कुछ सामान्यीकृत सहज प्रश्नों पर विचार किया जाता रहा जिनमें बाल-शिक्षा के सन्दर्भ में शिक्षा से सम्बन्धित बातें जैसे– कितने बच्चे स्कूल जाते हैं? शिक्षा की आरम्भिक आयु क्या हो? विभिन्न विषयों की शिक्षा देने के सामान्य तौर-तरीक़े किस तरह के हों? आदि पर बातचीत की जाती है। लड़कियों की शिक्षा पर बात करने के दौरान सामान्य रूप से समाज और स्थितियों की ऊपरी सतहों को देखा जाता है, परन्तु क्या शिक्षा का क्षेत्र लड़कियों के लिए भी उतना ही सहज है जितना कि लड़कों के लिए? जैसे– घर, आस-पड़ोस या खेल का मैदान लड़कों के लिए जो मायने रखता है, वह लड़कियों के लिए वही मायने नहीं रखता क्योंकि समाज में जो लिंगभेद व्याप्त है वह उन दोनों को दो अलग तरह के अनुभव देता है। मसलन, सड़क पर चलती एक लड़की का अनुभव वह नहीं होता जो एक लड़के के लिए होता है। यही बात शिक्षा के साधन और साध्य की भी है जो ऊपरी तौर पर एक लगते हुए भी सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों से दोनों के लिए भिन्न है। इस स्थिति को साहित्य द्वारा भी समझा जा सकता है। स्त्री-शिक्षा के प्रश्न से जूझते हिन्दी साहित्य में आरम्भिक उपन्यासों जैसे– *देवरानी जेठानी की कहानी* (लेखक– पं. गौरीदत्त शर्मा, 1870), *वामा शिक्षक* (लेखक– ईश्वरीप्रसाद, कल्याण राय, 1872) तथा *भाग्यवती* (लेखक- पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी) के सन्दर्भ से भी इस बात को समझा जा सकता है जहाँ स्त्री-शिक्षा का सम्पूर्ण उद्देश्य 'स्त्री-शिक्षा का विकास और आदर्श स्त्री चरित्र की प्रस्तुति'[1] था। इन उपन्यासों में स्त्रियों के जीवन में शिक्षा की भूमिका केवल उतनी ही मानी गई जिससे वह घर-गृहस्थी को सुचारु रूप से चला सके। वस्तुतः इन उपन्यासों को कण्डक्टस नॉवेल की श्रेणी में रखा जा सकता है, जिसमें शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ़ स्त्रियों का कण्डक्ट (तौर-तरीक़ा, आचार-व्यवहार, चाल-चलन, आदि) सुधारना माना गया है। साहित्य को समाज का दर्पण और रास्ता दिखाने वाली मशाल दोनों ही कहा जाता है। समाज में स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में ये उपन्यास बताते हैं कि स्त्री-शिक्षा को लेकर समाज में यही सोच बरक़रार थी कि लड़कियों को केवल घर सुधारने के लिए ही पढ़ना चाहिए। 19वीं शती के मध्य से 20वीं शती के मध्य (जब स्त्री-शिक्षा को व्यापक स्वीकृति मिलने लगी थी) कुछ बदलाव के साथ स्त्री-शिक्षा के सन्दर्भ में व्यापक द्वन्द्व दिखाई देता रहा। इस समस्या को जैनेन्द्र की कहानी 'पढ़ाई' द्वारा समझा जा सकता है।

**स्त्री–शिक्षा के प्रश्न से जूझते हिन्दी साहित्य में आरम्भिक उपन्यासों जैसे– *देवरानी जेठानी की कहानी* (लेखक– पं. गौरीदत्त शर्मा, 1870), *वामा शिक्षक* (लेखक– ईश्वरीप्रसाद, कल्याण राय, 1872) तथा *भाग्यवती* (लेखक– पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी) के सन्दर्भ से भी इस बात को समझा जा सकता है जहाँ स्त्री–शिक्षा का सम्पूर्ण उद्देश्य 'स्त्री–शिक्षा का विकास और आदर्श स्त्री चरित्र की प्रस्तुति' था।**

जैनेन्द्र कुमार हिन्दी कथा साहित्य के क्षेत्र में एक जाना-माना नाम है। उन्होंने अपनी रचना यात्रा 20वीं शती के तीसरे दशक से आरम्भ की और लगभग पचास वर्षों तक वे सक्रिय रहे। प्रेमचन्द के बाद उन्होंने हिन्दी कथा धारा को दूसरा मोड़ दिया। प्रेमचन्द जहाँ बहिर्मुखी थे वहीं जैनेन्द्र का कथा साहित्य अन्तर्मुखी है। उन्होंने व्यक्ति के आन्तरिक जीवन, मानसिक द्वन्द्व, मूल्य विषयक संघर्ष आदि को गहराई और सर्जनात्मकता के साथ अपने उपन्यासों और कहानियों में अभिव्यक्त किया। उनकी अनेक कहानियाँ जैसे– 'पाज़ेब', 'खेल'

1. राय, गोपाल, *हिन्दी उपन्यास का इतिहास*, पृ. 21.

या 'आत्म-शिक्षण' बाल मनोविज्ञान के साथ उन सामाजिक स्थितियों का भरा-पूरा ख़ाका है जिसमें बच्चों का पालन-पोषण होता है। जैनेन्द्र की कहानी 'पढ़ाई' आत्मकथात्मक प्रविधि से लिखी गई है, जो छह बरस की बालिका की पढ़ाई की समस्या से जुड़ी हुई है। यह पूरी कहानी न केवल बाल-शिक्षा पर केन्द्रित है, बल्कि पढ़ाई के माध्यम से समाज के उस पक्ष की गहरी पड़ताल करती है जहाँ पढ़ाई भी स्त्री और पुरुष के बीच समाज में पनपने वाले गहन विभेद की ओर इशारा करती है। कहानी का सारांश इस तरह है— छह बरस की नूनी यानी सुनयना को लेकर उसकी माँ बहुत परेशान रहती है। कारण? नूनी पढ़ने से अधिक खेलकूद में दिलचस्पी लेती है। माँ नितान्त सांसारिक ढंग से सोचती है कि लड़की पढ़ जाए ताकि उसका विवाह अच्छी जगह हो जाए। बच्ची की एक बुआ भी है जो माँ को सख़्ती करते देख बरजती है। इससे दोनों में नोंक-झोंक भी हो जाती है। माँ, पिता को (जो एक लेखक व बुद्धिजीवी है और इस नाते बच्ची के मनोविज्ञान को भी समझता है) निरन्तर ताना देती है कि वह बच्ची की तरफ़ ध्यान नहीं देता। पिता, माँ को कहता है कि वह बच्ची को रोज़ाना एक घण्टा पढ़ाएगा। माँ को निरन्तर एक ही व्यथा सताती है कि यदि नूनी पढ़ेगी नहीं तो उसका ब्याह कैसे होगा? पर पिता उदार मन से कहता है कि अभी बहुत समय है। तभी कहानी में एक घटना घटती है। एक दिन नूनी बिना दूध पिए पड़ोस के लड़के के साथ खेलने जाना चाहती है। वह बुआ के कहने से जैसे-तैसे थोड़ा दूध पीकर खेलने भाग जाती है। बच्ची नीचे गली में 'भरा समन्दर' खेल रही है। माँ नौकर को उसे लेने भेजती है। कथा लेखक ऊपर से यह सब देख रहा होता है। वह नौकर को बरज देता है। तब माँ ख़ुद आकर बच्ची को खचेड़ती ले जाती है और खूब डाँटती है। साथ ही वह उसे कोठरी में मूँद देती है व ख़ुद भी बहुत दुखी होती है। लेखक को जब माँ कहती है कि आपने तो इसे रोज़ाना पढ़ाने को कहा था, तब वह कहता है- "मेरी यही पढ़ाई है।" माँ पहले तो चुप रहती है पर चौथे रोज़ मायके चल देती है। इसपर लेखक का कोई बस नहीं चलता। कुछ समय पश्चात माँ वापस लौट आती है और नूनी उसी तरह परम्परागत ढंग से पढ़ने लगती है। इस छोटी-सी कहानी में संवादों के माध्यम से माँ और पिता के स्वभावगत अन्तर और सामाजिक स्थितियों में माँ की शंका को बख़ूबी व्यक्त किया गया है। साथ ही बच्ची के साथ उनका व्यवहार किस तरह से नरम और गरम होता रहता है, इसे भी कुशलता से उभारा गया है।

**शिक्षा सिद्धान्तों के अनुसार बच्चे समाज में विभिन्न सामाजिक संस्थाओं और वयस्कों से अन्त:क्रिया करते हुए स्वयं ही ज्ञान का सृजन करते हैं। लेकिन ऐसी अन्त:क्रिया द्वारा अर्जित इस ज्ञान का सृजन उन्हें और भी बहुत कुछ सिखाता है। ख़ासकर लड़के और लड़की का विभेद भी इसी दौरान पनपने लगता है।**

शिक्षा सिद्धान्तों के अनुसार बच्चे समाज में विभिन्न सामाजिक संस्थाओं और वयस्कों से अन्त:क्रिया करते हुए स्वयं ही ज्ञान का सृजन करते हैं। लेकिन ऐसी अन्त:क्रिया द्वारा अर्जित इस ज्ञान का सृजन उन्हें और भी बहुत कुछ सिखाता है। ख़ासकर लड़के और लड़की का विभेद भी इसी दौरान पनपने लगता है। यह कहानी हमें समाज में व्याप्त इसी समस्या की ओर इंगित करती है कि लिंगभेद से पढ़ाई का साध्य भी किस तरह बदल जाता है। भले ही अब कुछ पढ़े-लिखे घरों में स्थिति बदली है, परन्तु कमोबेश समस्या वहीं है जहाँ इतने वर्ष पूर्व थी।

एक नन्ही बच्ची की पढ़ाई यहाँ केवल पढ़ाई नहीं है बल्कि पूरे समाज, समाज के बीच स्त्री की स्थिति और लड़कियों के लिए बचपन की

उस अवधारणा का निषेध है जहाँ बेफ़िक्री को बचपन का पर्याय माना गया है। नन्ही नूनी की माँ उसे लेकर बहुत परेशान है क्योंकि वह पढ़ती नहीं। कहानी की शुरुआत ही समस्या को आरोपित कर देती है-

*"यह सुनयना जाने कितने बरस की हो जाने पर ठीक-ठीक सुनयना बनेगी? अभी तो दिनभर नूनी ही बनी रहकर ऊधम मचाती डोलती रहती है।... वह छह बरस से भी ऊपर की हो गई है। अब पुराना वह सब-कुछ नहीं निभ सकेगा। उमर आ गई है कि अब अदब सीखे, कहना माने, और शऊर से रहे। और, वह शऊर जानती नहीं।"*

ग़ौरतलब है कि छह बरस की नूनी का यह कहकर विश्लेषण किया जा रहा है कि 'उमर आ गई है' और उसे शऊर सिखाने की बात करना समाज की उस सोच की तरफ़ इशारा करता है जहाँ लड़कियों से असमय ही प्रौढ़ व्यवहार की माँग की जाने लगती है। नूनी अलमस्त, निश्छल और दुनिया के प्रपंचों से दूर दूधिया मन की है। नूनी की माँ उसे सब-कुछ अदब-क़ायदे से सिखाना चाहती है। यानी वह उसे उसी तरह देखना चाहती है जैसे समाज में एक आदर्श लड़की को देखा जाता है, क्योंकि भारतीय समाज में एक सीधा-सा समीकरण है– यहाँ बेटे को आश्वस्ति और बेटी को आशंका के रूप में देखा जाता है। संस्कृत का एक श्लोक है– 'पुत्रीति जाता महतीत चिन्ता, कस्मां प्रदेयेति महानवितर्कः। दत्वा सुखमवाचसक्याति वा न वेति, कन्या पितृत्वंखलुनाम कष्टम्'। अर्थात कन्या का जन्म महती चिन्ता का कारण है क्योंकि सबसे बड़ा सवाल यह है कि उसका परिणय किससे किया जाए? परिणय कर भी दिया तो वह ससुराल में सुख पाएगी या नहीं, ऐसे प्रश्न मन को मथने लगते हैं। अतएव कन्या का पिता होना निश्चित रूप से कष्टकारी है। नूनी की पढ़ाई भी इन्हीं परम्परागत प्रश्नों के घेरे में उलझी हुई है जबकि पिता, माँ को भी सहानुभूति की नज़र से देखता है। कहानी में प्रसंग आता है-

*मैंने कहा, "अभी छह बरस की ही तो है।"*

*"यों ही बीस बरस की भी हो जाएगी...।"*

*मैंने हँसकर कहा, "यों ही तो बीस बरस की कैसे हो जाएगी। चौदह बरस बीच के काट लेगी तब होगी।"*

**ग़ौरतलब है कि छह बरस की नूनी का यह कहकर विश्लेषण किया जा रहा है कि 'उमर आ गई है' और उसे शऊर सिखाने की बात करना समाज की उस सोच की तरफ़ इशारा करता है जहाँ लड़कियों से असमय ही प्रौढ़ व्यवहार की माँग की जाने लगती है।**

माँ नूनी के भविष्य को लेकर निरन्तर आशंकित है और आशंका का विषय भी वही है कि उसे मिलने वाला ससुराल कैसा होगा? यह सत्य है कि एक सामान्य भारतीय लड़की के भावी जीवन का निर्धारण करने वाली संस्था विवाह है। ऐसी अनेक माँएँ हैं जो वयस्क, पढ़ी-लिखी और योग्य लड़की तक के विवाह को लेकर निरन्तर आशंकित रहती हैं। माँ की चिन्ता इसलिए ज़्यादा है कि लड़की को दूसरे घर जाना है और इसीलिए वह उसी परम्परागत ढंग से उसे शिक्षा देना चाहती है। नूनी अपनी माँ के शरीर का रक्त और माँस भर नहीं है बल्कि वह उसके भविष्य के सपनों का स्पन्दन भी है। माँ चाहती है कि जीवन में जो भी श्रेष्ठ है वह उसकी बेटी को मिले, इसीलिए वह उसकी पढ़ाई पर ज़ोर देती है। कहानी यह भी प्रश्न उठाती है कि लड़कियों के जीवन में श्रेष्ठ क्या है! क्या वही जो समाज ने उनके लिए निर्धारित कर रखा है! जैनेन्द्र कहते हैं–

*"माँ इससे बड़ी असन्तुष्ट है, एक तो लड़की है, वह यों बिगड़ी जा रही है। बिगड़ जाएगी तो फिर कौन सँभालेगा लेगा? उन्हीं के सिर तो सब पड़ेगा। सो वह भी औरों की तरह फ़िकर करना छोड़ बैठे, तो कैसे चले। उनकी और सुनन्दा की कहा-सुनी इस बात पर अकसर हो जाती है।"*

दरअसल कारण बेटी नहीं है, कारण है माँ के मन का भय, क्योंकि बेटी की ससुराल का भय उसे डराता है। भय के कारण भी वही हैं जो इस समाज ने बेटियों के लिए नियत कर रखे हैं। माँ की चिन्ता का फ़लक विराट है जो मात्र छह बरस की बच्ची के भावी ससुराल और वैवाहिक जीवन तक फैला हुआ है। उसे लगता है कि अगर बेटी नहीं पढ़ पाई तो सब उसी पर दोष मढ़ेंगे। कच्ची मिट्टी से वह चट्टानी मूर्ति गढ़ना चाहती है। एक ऐसी प्रतिमा जो समाज की विपरीतताओं के बीच भी अजेय खड़ी रह सके। माँ का बच्ची को थप्पड़ लगाना, कोठरी में मूँदना, डाँटना, आदि सभी क्रियाएँ समाज के उस भय का प्रतिफलन हैं जो यह बताता है कि अगर यह पढ़ेगी नहीं तो इसका भविष्य (जो निर्धारित है) क्या होगा? वहीं नन्ही नूनी किसी भी किस्म के विधि-निषेध से अपरिचित, वर्जनाओं से अछूती और अन्त:वृत्ति की उमंगों की पोटली है, लेकिन उसकी माँ उसे समाज के अनुरूप ढालना चाहती है और परेशान रहती है। हालाँकि उसे पीटने के बाद वह ख़ुद भी रोती है क्योंकि वह माँ है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि समाजीकरण, व्यक्तित्व निर्धारण और सीखने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण समय में जब बच्चों को वयस्कों द्वारा उनके प्रति प्रेम, स्नेह, धैर्य, आदर और प्रोत्साहन की ज़रूरत होती है, देखा यह गया है कि परिवार, समाज और स्कूल के वयस्क बच्चों के साथ अकसर असहिष्णु हो जाते हैं। शिक्षा के जिन मूल्यों यानी सहिष्णुता, प्रेम, धैर्य, आदि की बात की जाती है, उसका व्यावहारिक रूप बच्चे शायद ही अपने प्रारम्भिक काल में घर और स्कूल में सीख पाते हैं। किन्तु नूनी की माँ का असहिष्णु हो जाना भविष्य का वह भय है जो समाज की ही देन है। माँ अपनी बेटी को आत्मनिर्भर होने, स्वाभिमान बनाए रखने या किसी और मक़सद से नहीं, बल्कि इसलिए पढ़ाना चाहती है कि यही दुनिया का चलन है। जैनेन्द्र कहते हैं—

**शिक्षा के जिन मूल्यों यानी सहिष्णुता, प्रेम, धैर्य, आदि की बात की जाती है, उसका व्यावहारिक रूप बच्चे शायद ही अपने प्रारम्भिक काल में घर और स्कूल में सीख पाते हैं। किन्तु नूनी की माँ का असहिष्णु हो जाना भविष्य का वह भय है जो समाज की ही देन है।**

"तब लड़की के पढ़ उठने से ही गुज़ारा होता है या माँ के जी में आँसू की भाप-सी उठ आने पर भी गुज़ारा हो जाता है। तब वह कहती हैं,

*'मास्टरजी, इसे तस्वीर वाला सबक पढ़ाना। और मास्टरजी, इसके मन के मुताबिक़ पढ़ाना'।"*

जैनेन्द्र यहाँ एक ओर तो इस तरफ़ इंगित करते हैं कि शिक्षा विद्यार्थी-केन्द्रित होनी चाहिए न कि पाठ्य सामग्री या शिक्षक-केन्द्रित, वहीं दूसरी ओर यह भी कि तस्वीरों वाले सबक़ को बच्चे ध्यान से पढ़ते हैं क्योंकि तस्वीरें उनकी कल्पना को उड़ान देती हैं। माँ का नूनी को मन मुताबिक़ पढ़ाने की बात कहना परम्परागत शिक्षा पद्धति पर एक आक्षेप भी है जो रटन्त विद्या और डण्डे के ज़ोर पर चलती है। क्या यह बच्चों पर अत्याचार नहीं कि उन्हें स्वाभाविक क्रियाओं द्वारा नहीं बल्कि डण्डे के ज़ोर पर पढ़ाया जाए! जबकि सीखने और सिखाने के कई और तरीक़े भी हैं। इसके समकक्ष तेत्सुको कुरोयानागी की पुस्तक *तोत्तोचान* का वह प्रकरण याद आ जाता है जहाँ नन्ही तोत्तोचान को स्कूल से इसलिए

निकाल दिया जाता है क्योंकि वह पढ़ती नहीं और कक्षा में अनुशासनहीनता फैलाती है। जबकि वह बच्ची अपनी स्वाभाविक क्रियाओं (मेज़ का ड्रावर खोलने में पाने वाले आनन्द के कारण बार-बार मेज़ का ढक्कन खोलती है और हर चीज़ जैसे– पेंसिल, रबड़, कॉपी, आदि एक-एक कर बाहर निकालती है या स्कूल के बाहर सड़क चलते साज़िन्दों को देखने के लिए खिड़की से झाँकती।) के चलते अपनी समझ में ऐसा कुछ भी नहीं करती।[2] यही तोत्तोचान आगे चलकर विश्व प्रसिद्ध तोमोए स्कूल में पढ़कर अपनी योग्यता का प्रमाण देती है क्योंकि यह स्कूल परम्परागत शिक्षा पद्धति से हटकर शिक्षा को विद्यार्थी-केन्द्रित बनाकर चलता था। जहाँ पाठ्यपुस्तकों से कहीं अधिक इस बात पर ज़ोर दिया जाता था कि बच्चे अपने जिए हुए अनुभवों से सीखें।

नूनी के नन्हे से जीवन में पढ़ाई एक प्रतीक भूमि है जिसके द्वारा उसे पारम्परिक संस्कारों में ढाला जा रहा है। जैनेन्द्र के अनुसार,

> *"माँ तो माँ है, पर लड़की तो सदा लड़की बनी रहेगी नहीं। माँ के मन में यही बात उठकर दर्द दे रही है। आज तो लड़की है, पर एक कल भी आ पहुँचने वाला है, जब उसका ब्याह होगा, चाल पूछेंगे, कितना पढ़ी है, क्या जानती है। तब उनके सामने यह बात किस तरह कहने लायक़ हो सकेगी कि मेरे बड़े दुलार की है, बड़े प्यार से मैंने पाली है। तब तो खोजकर यही कहना होगा कि ख़ूब काम सीखा है, और उस मास्टर से इतना पढ़ी है, और वहाँ से यह पास किया है। उस कल के दिन आने पर चुप नहीं रह जाए; बल्कि बहुत-कुछ उस रोज़ कहने के लिए उसके पास जमा हो। इसी के प्रबन्ध में तो वह है। वह माँ तो है; पर यह भी कैसे भूलें कि इसीलिए है कि किसी अजनबी को खोजकर पाए और उसे अपनी लड़की सौंप डाले। यह ज़िम्मेदारी, वह बहुत कम क्षण भूल पाती है।"*

**जैनेन्द्र के अनुसार, "माँ तो माँ है, पर लड़की तो सदा लड़की बनी रहेगी नहीं। माँ के मन में यही बात उठकर दर्द दे रही है। आज तो लड़की है, पर एक कल भी आ पहुँचने वाला है, जब उसका ब्याह होगा, चाल पूछेंगे, कितना पढ़ी है, क्या जानती है।**

कृष्ण कुमार के अनुसार, "लड़कियों के जीवन और शिक्षा में एक बुनियादी अन्तर्विरोध है। लड़कियों के जीवन का उद्देश्य परम्परा में 'पत्नी' और 'गृहिणी' बनना, 'माँ' बनना और परिवार की घरेलू ज़िम्मेदारियों का निर्वाह करना है। पत्नी या माँ बनने में जीवन की निर्धारित धारा में बढ़ते हुए कुछ बनना है, जो ज्ञान और कौशल के विकास या समाज में हैसियत पाने की आकांक्षा के ज़रिए कुछ बनने से अलग है। यह आकांक्षा व्यक्तिगत स्तर पर स्वतंत्र मानस का आधार माँगती है। उसे विकसित करना ही आधुनिक स्तर पर शिक्षा का उद्देश्य माना जाता है। स्पष्टतः यह उद्देश्य लड़की के जीवन के उन उद्देश्यों से टकराता है जो बनाए तो परम्परा ने हैं, पर जिन्हें आधुनिक होता हुआ भारत का समाज अपनाए हुए है। समाज के आधुनिक ढाँचे में ये पारम्परिक उद्देश्य नए सिरे से पल्लवित हो रहे हैं।"[3] पढ़ाई को लेकर माँ का चिन्तित होना भी इसीलिए है। नूनी को पढ़ाई-लिखाई में रुचि नहीं है। वह माँ की लाख कोशिशों के बावजूद भी पढ़-लिख नहीं पाती।

2. कुरोयानागी, तेत्सुको, *तोत्तोचान* (नौवीं आवृत्ति–2017), राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पृ. 2-6.

3. कृष्ण कुमार, *चूड़ी बाज़ार में लड़की* (प्रथम संस्करण–2014), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 102.

बच्ची की रुचि खेलने में है जो स्वाभाविक है, परन्तु माँ का कहना है कि;

*"उनके पेट की कन्या है, पर दुनिया बुरी है। उसने पढ़ना-लिखना जैसी भी चीज़ अपने बीच में पैदा कर रखी है। और उसी दुनिया में मास्टर लोग भी हैं, जो डण्डा दिखाकर बच्चों को पढ़ा देंगे और आपसे रुपया लेकर पेट पाल लेंगे। और उसी दुनिया में एक चीज़ है प्रतिष्ठा। और भी इसी तरह की बहुत-सी चीज़ें हैं। और फिर है ब्याह, जिसमें एक सास मिलती है और एक ससुर मिलता है।"*

ब्याह में सास और ससुर का मिलना भर कहकर जैनेन्द्र भारतीय परिवेश में ससुराल के माहौल को ज़िन्दा कर देते हैं, जहाँ ताड़ना है, अत्याचार हैं, ताने हैं और किसी भी हालत में लड़की को सामंजस्य बैठाना है। सिमोन दी बौअवा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *द सेकेण्ड सेक्स* में प्रसिद्ध सूत्रवाक्य लिखा था, 'स्त्री होती नहीं, बनाई जाती है'। यहाँ नूनी को भी बनाया जा रहा है, यानी उस होने वाले ससुराल के लिए तैयार किया जा रहा है। ग़ौरतलब है कि 'होने' और 'बनाए' जाने में अन्तर है। 'होना' प्राकृतिक होता है जबकि बनाए जाने में सांस्कृतिक-सामाजिक तत्त्व निहित हैं। बच्ची जब पैदा होती है तब वह केवल सद्य:जात अभी अभी उत्पन्न माँसपिण्ड होती है जिसमें स्त्रीसूचक जननांग होता है, किन्तु पैदा होते ही उसके आसपास का समाज उसे 'स्त्री' नाम से चिह्नित कर देता है। और उसके साथ वैसा ही व्यवहार करने लगता है जिसकी वजह से वह अपनी चेतना पर निरन्तर पड़ती छाप से स्वयं को 'स्त्री' नाम से पहचानने लगती है और स्त्रियोचित व्यवहार करने लगती है। पढ़ाई के मक़सद में भी यही बात आड़े आ रही है। माँ जानती है कि नूनी का मन पढ़ने में नहीं है। उसके पिता लेखक हैं और बच्ची के मन को समझते हैं। सम्भवत: इसीलिए जब माँ कहती है, "घर पर पूरे पाँच घण्टे उसे पढ़ाना चाहिए।" तो वह कहते हैं कि "पाँच घण्टे बहुत होते हैं। एक घण्टा पढ़ लेना बहुत काफ़ी है। यों अभी ज़रूरी वह भी नहीं है।" और माँ से कहते हैं कि वह उसे एक घण्टा पढ़ा दिया करेंगे। इसपर माँ सन्तुष्ट हो जाती है। माँ के पिता के साथ चलने वाले संवादों में पढ़ाई की समस्या के साथ निरन्तर यह सोच हावी है कि उसे ब्याहना है। वह कहती है–

**सिमोन दी बौअवा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक द सेकेण्ड सेक्स में प्रसिद्ध सूत्रवाक्य लिखा था, 'स्त्री होती नहीं, बनाई जाती है'। यहाँ नूनी को भी बनाया जा रहा है, यानी उस होने वाले ससुराल के लिए तैयार किया जा रहा है। ग़ौरतलब है कि 'होने' और 'बनाए' जाने में अन्तर है।**

*"तुम नाराज़ तो नहीं हो गए? देखो, नाराज़ मत होना। मैं क्या करूँ? मेरा मन कहता है, बिट्टन को ख़ूब पढ़ाना चाहिए, और ख़ूब अच्छा बनाना चाहिए। इसी से मैं कहती हूँ।"*

*मैंने कहा, "ठीक तो है।" "...मेरे मन बिथा बड़ी होती है। तुम जानो उसका ब्याह भी होगा। इसी से मैं इतना कहा करती हूँ।"*

*मैंने कहा, "ठीक तो है।"*

और सोचा, लड़की को ब्याह देने के वक़्त की व्यथा को इतने साल दूर से खींच लाकर अपने मन में आज ही प्रत्यक्ष अनुभव कर उठने वाला स्त्री-माता का हृदय कैसा है?

माँ की निरन्तर आशंकाओं के प्रति एक करुणा का भाव भी यहाँ दिखाई देता है क्योंकि माँ समाज के उसी साँचे में ढली है जहाँ घर की लड़कियों की नियति विवाह तक केन्द्रित है।

कहानी में इस सारी मारा-मारी से हटकर एक अन्य प्रसंग है नूनी के 'भरा समन्दर' यानी मच्छी-मच्छी खेलने का। जहाँ वह माँ की इच्छा के विरुद्ध घर के नीचे गली में पड़ोस के बच्चों के साथ खेल रही है। लेखक ने यहाँ खेलती हुई बच्ची और उसके साथियों का मनोहारी वर्णन किया है। वह बच्चों के साथ एकाग्र हो जाता है और उसी तरह उनकी कल्पनाओं में डूब जाता है। साथ ही वह यह भी जानता है कि बच्ची के स्वस्थ विकास के लिए खेल कितना ज़रूरी है। माँ नहीं चाहती कि बच्ची गली में खेले क्योंकि वह भविष्य की आशंकाओं और जीवन में उगने वाली सम्भावनाओं के कल्पित संसार के भय के बीच बेटियों को प्यार करती है। जैनेन्द्र कहते हैं,

*"नीचे देखता हूँ, इस चौबीसों घण्टे चलने वाली पत्थर की गली को तो ये बालक लोग भरा-समन्दर बना बैठे हैं, और इस समन्दर में अकेली खड़ी हुई नूनी नाम की मछली झुककर अपने टखने छूकर, कह रही है, 'इत्ता'!*

*पर, मुझे तो कुछ भी मालूम न था। मछली का नाम नूनी तो नहीं है, गोपीचन्दर है।... और गोपीचन्दर जैसे सुन्दर नाम वाली मीन अबके घुटनों तक ही झुक सकती है, क्योंकि समुद्र इस बीच घुटनों तक बढ़ आया है...*

*समुद्र क्षण-क्षण बढ़ रहा है, और मछली के मन की चौकसी भी बढ़ रही है। वह देखो, जो अबके गाकर और चिल्लाकर पूछा गया है, 'कित्ता?' तो वह दोनों हाथों को कटि पर रखकर, एक ठुमकी लगाकर बतला रही है, 'इत्ता'।"*

लेखक यहाँ अत्यन्त रचनात्मक ढंग से बच्चों की कल्पनात्मक किन्तु उनके लिए वास्तविक दुनिया के बारे में बताता है,

*"और मुसाफ़िर भाई, तुम बेखटके इस गली में से निकलते चले जाओ। तुम्हारे लिए रोक-टोक नहीं है। पानी तुम्हें नहीं छुएगा।"*

क्योंकि समुद्र बच्चों की कल्पना में है किसी और की नहीं। इसी समय नूनी की माँ ऊपर से बच्ची को बुलाने के लिए नौकर भेजती है। नौकर हाथ पकड़कर बच्ची को ले जाने लगता है और वह मचलती है, "हम नहीं जाएँगे, नहीं जाएँगे।" पिता, जो ऊपर से देख रहा होता है नौकर को कहता है, "छोड़ दो।" नौकर ख़ाली हाथ ऊपर जाकर मालकिन को कहता है कि "बाबूजी ने मना कर दिया।" तब माँ स्वयं बाहर आकर रोती-पीटती नूनी को खचेड़कर घर ले आती है। और जब पिता कहता है कि मैंने लड़की का एक घण्टा पढ़ाने को लिया है। मेरी यही पढ़ाई है। अब तुम इसमें दख़ल देने नहीं पाओगी। तब माँ आँसुओं से सब-कुछ स्वीकार कर लेती है पर चौथे रोज़ वह मायके चल देती है।

**कहानी में पिता समझदार और बालमन को समझने वाला प्रतीत होता है। इसी से वह जानता है कि बच्चे केवल पुस्तक से ही नहीं, खेलने-कूदने के क्रियाकलापों से भी बहुत कुछ सीखते हैं। उनका सामंजस्य, कल्पनाशक्ति का विकास, दुनिया को देखने-परखने की अपनी शक्ति का विकास इसी खेल की दुनिया से होता है।**

कहानी में पिता समझदार और बालमन को समझने वाला प्रतीत होता है। इसी से वह जानता है कि बच्चे केवल पुस्तक से ही नहीं, खेलने-कूदने के क्रियाकलापों से भी बहुत कुछ सीखते हैं। उनका सामंजस्य, कल्पनाशक्ति का विकास, दुनिया को देखने-परखने की अपनी शक्ति का विकास इसी खेल की दुनिया से होता है जिसे सम्भवत: बड़े-बूढ़े समय की बरबादी या बच्चों का बिगड़ना समझते हैं। साथ ही बच्चों की भाषा का विकास भी इसी के द्वारा होता है। कृष्ण कुमार के अनुसार, "बच्चों की भाषा का

सम्बन्ध उन अनुभवों से है जिन्हें वे अपने हाथों और शरीर से स्वयं करते हैं। और उन वस्तुओं से भी है जिनके सम्पर्क में वे आते हैं। बचपन में शब्द और क्रियाकलाप साथ-साथ चलते हैं।”[4] परन्तु नूनी की पढ़ाई जैसा बड़ा विषय इस खेल के क्रियाकलाप से नहीं सुलझता। माँ, पिता से रूठकर मायके चल देती है और विवश होकर पिता को माँ का कहना मानना पड़ता है। कहानी का अन्त कुछ इस तरह से होता है-

> *“वह आ गई हैं, और मेरी बात सब झूठ मान लेती हैं।*
>
> *पर हाल वही है। क्योंकि लड़की को पढ़ना है और पिटकर दुबली होगी, तो डॉक्टर है, और डॉक्टर के लिए पैसा है, पर, लड़की को पढ़ना है। मैं कहता हूँ, ‘अच्छा बाबा।’ और अकेले मैं नूनी से मच्छी-मच्छी खेलना चाहता हूँ। और नूनी खेलती नहीं, मुझसे किताब के माने पूछती है।”*

यह नूनी का सुनयना में तब्दील होना है। वह स्वयं उस अल्हड़ बचपन को छोड़ रही है। शिशु अवस्था में ही प्राथमिक रूप से माता-पिता तथा अन्य अभिभावकों के प्रभाव निर्देश और देखरेख में शिशु अपने सामाजिक-सांस्कृतिक विधि-निषेध और औचित्य-अनौचित्य के क़ायदे-क़ानून सीखता है। इनको आत्मसात करके अवचेतन मन के उस हिस्से का विकास होता है जिसको फ्रायड ने सुपरईगो कहा है। यह अवचेतन, प्राकृतिक और जन्मजात है लेकिन सुपरईगो का नियोजन, विकास और स्थापना होती है। सुपरईगो अभिभावक पक्ष के साथ तादात्म्य का परिणाम है और आरम्भ में माता-पिता के अलावा उन सब लोगों का प्रभाव भी संचित होता है जो अभिभावक पक्ष में पदार्पण करते हैं। और नूनी के व्यक्तित्व में आए बदलाव को यदि फ्रायड के तर्क से देखें तो यह बच्ची न केवल अब गम्भीर हो चली है बल्कि समाज के विधि-निषेधों को भी अपनाने लगी है।

कृष्ण कुमार के अनुसार, “स्वाभाविक गतिविधियों पर बन्दिशें शुरू तो छुटपन से ही हो जाती हैं जब कूदफाँद करती हुई बच्ची को यह बताकर रोका जाता है कि वह लड़का नहीं है। अतः लड़कों जैसी हरकतें छोड़ दे। नौ-दस बरस की आयु तक यानी किशोर वय से पहले ही, इन पाबन्दियों को ज़्यादातर लड़कियाँ आत्मसात कर चुकी होती हैं। जो बन्धन माता-पिता और अन्य वयस्कों द्वारा उसपर लगाए जाते थे उन्हें लड़की की चेतना स्वयं अपने पर लगाने में कुशल हो जाती है।”[5] नूनी की भी यही स्थिति है। पढ़ाई के बहाने स्त्री-जीवन की पड़ताल यह कहानी करती है।

**स्त्री के लिए सुखों की संकल्पना पूरी तरह से संस्थाबद्ध है जैसे— वह पत्नी बनकर परिवार को सुखी रखेगी या माँ बनकर वंश को आगे बढ़ाकर सुख पाएगी। माँ इससे आगे कुछ भी सोच नहीं पाती। जबकि शिक्षा की सबसे सटीक परिभाषा रही है– “सा विद्या या विमुक्तये”। अर्थात वही विद्या है जो मुक्ति के लिए है।**

स्त्री के लिए सुखों की संकल्पना पूरी तरह से संस्थाबद्ध है जैसे– वह पत्नी बनकर परिवार को सुखी रखेगी या माँ बनकर वंश को आगे बढ़ाकर सुख पाएगी। माँ इससे आगे कुछ भी सोच नहीं पाती। जबकि शिक्षा की सबसे सटीक परिभाषा रही है– “सा विद्या या विमुक्तये”। अर्थात वही विद्या है जो मुक्ति के लिए है। महादेवी वर्मा लिखती हैं, “प्रथम तो माता-पिता

4. कृष्ण कुमार, *बच्चे की भाषा और अध्यापक* (दसवीं आवृत्ति–2006), नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया, पृ. 2.

5. कृष्ण कुमार, *चूड़ी बाज़ार में लड़की* (प्रथम संस्करण–2014), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 56.

कन्या की शिक्षा के लिए कुछ व्यय ही नहीं करना चाहते, दूसरे यदि करते भी हैं तो विवाह की हाट में उनका मूल्य बढ़ाने के लिए, कुछ उनके विकास के लिए नहीं।"[6] यह स्थिति आज कुछ बदलती हुई नज़र आती है परन्तु इक्का-दुक्का अपवादों को छोड़ दें तो ज़्यादातर वहीं यह स्थिति बदली है जहाँ माता-पिता आसानी से शिक्षा का व्यय उठा पाने में सक्षम हैं। अन्यथा कितने माता-पिता हैं जो पुत्र की तरह पेट काट कर, ऋण लेकर या गहने बेचकर अपनी बेटी को पढ़ाते हैं।

जैनेन्द्र की यह कहानी बाहरी रूप से सरल लगते हुए भी गम्भीर प्रश्न उठाती है और सोचने पर मज़बूर करती है।

डॉ निशा नाग हिन्दी में एमफिल, पीएचडी हैं। विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में आपकी समीक्षाएँ, लेख व कहानियाँ प्रकाशित होती रहती हैं। मिरांडा हाउस, दिल्ली विश्वविद्यालय में वरिष्ठ प्रवक्ता हैं जहाँ वे पिछले 23 वर्षों से अध्यापन कर रही हैं।

सम्पर्क : nishanagpurohit@gmail.com

6. वर्मा, महादेवी, *निबन्धों की दुनिया* (प्रथम संस्करण–2009), प्रधान सम्पादक– निर्मला जैन, पृ. 133.

टीप : सारे इटैलिक हिस्से जैनेन्द्र कुमार की कहानी 'पढ़ाई' से उद्धृत हैं। जैन, जैनेन्द्र, *जैनेन्द्र रचनावली,* भाग चार (प्रथम संस्करण–2008), सम्पादक– निर्मला जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 272.